श्रीपरमात्मने नमः

ज्ञानयोगके अनुसार विविध साधन

श्रीमद्भगवद्गीतामें जिस प्रकार योगनिष्ठाकी दृष्टिसे स्थान-स्थानपर कर्म और उपासनाका उल्लेख है, वैसे ही ज्ञाननिष्ठाकी दृष्टिसे भी उनका वर्णन है। यद्यपि ज्ञाननिष्ठाकी दृष्टिसे किये गये साधनोंकी कर्मसंज्ञा नहीं है, फिर भी उन्हें क्रिया अथवा चेष्टामात्र तो कह ही सकते हैं। उनको कर्म कहना केवल समझानेके लिये ही है।

ज्ञान दो प्रकारका होता है—एक फलरूप ज्ञान और दूसरा साधनरूप ज्ञान। यहाँ ज्ञाननिष्ठा कहनेका अभिप्राय योगनिष्ठाके समान ही साधनरूप ज्ञान है। योगनिष्ठा और ज्ञाननिष्ठा दोनोंसे ही फलरूप ज्ञानकी प्राप्ति होती है। उसको चाहे परमात्माका यथार्थ ज्ञान कहा जाय अथवा तत्त्वज्ञान; वह सभी साधनोंका फल है और सभी साधकोंको प्राप्त होता है (गीता अध्याय ५ श्लोक ४-५)।

फलरूप ज्ञानसे जिस पदकी प्राप्ति होती है, उसे श्रीमद्भगवद्गीतामें निर्वाण ब्रह्म, परम पद, परम गति, अमृत और माम् आदि नामसे कहा गया है, यही परमात्माकी प्राप्ति है और यही समस्त साधनोंका अन्तिम फल है। श्रीमद्भगवद्गीतामें इस परम पदकी प्राप्तिके लिये सांख्य अथवा ज्ञानयोगकी दृष्टिसे भी अनेकों साधन वतलाये गये हैं। उनका उल्लेख मुख्यरूपसे चार भागोंमें विभक्त करके किया जाता है। इनके अवान्तर भेद भी बहुत-से हो सकते हैं। वे अपनी-अपनी समझ और साधककी दृष्टिपर निर्भर करते हैं। उनके सम्बन्धमें भी थोड़ा प्रकाश डाला जाता है। अभेदनिष्ठाकी दृष्टिसे साधनके निम्नलिखित चार मुख्य भेद हैं—

(१) जड़, चेतन, चर और अचरके रूपमें जो कुछ प्रतीत हो रहा है, वह सब ब्रह्म ही है।

(२) जो कुछ दृश्यवर्ग प्रतीत होता है, वह क्षणभङ्गुर, नाशवान् और अनित्य होनेके कारण वास्तवमें कुछ नहीं है। इन सबका बाध अर्थात् अत्यन्ताभाव होनेपर जो कुछ अबाध और अखण्ड सत्यके रूपमें शेष रह जाता है, वह सच्चिदानन्दघन ब्रह्म है।

(३) जड़-चेतनके रूपमें जो कुछ भी प्रतीत होता

है, वह सब 'अहम्' पदका लक्ष्यार्थ आत्मा ही है, आत्मासे भिन्न और कोई भी वस्तु नहीं है।

(४) शरीर आदि सम्पूर्ण दृश्य नाशवान्, क्षणभङ्गुर और अनित्य होनेके कारण वास्तवमें हैं ही नहीं—इस प्रकारका अभ्यास करते-करते जब सबका अभाव हो जाता है, तब जो अविनाशी, नित्य, अक्रिय, निर्विकार और सनातन सत्य वस्तु शेष रह जाती है, वही 'अहम्' पदका लक्ष्यार्थ आत्मा है। इस आत्माको ही देही, शरीरी आदि नामसे व्यवहारमें कहा जाता है। यह आत्मा सबका द्रष्टा और साक्षी है।

जैसे भेदभावसे उपासना करनेवाले भक्तको भेदरूपसे ही परमात्माकी प्राप्ति होती है, क्योंकि उसकी धारणा ही वैसी होती है, ठीक वैसे ही पूर्वोक्त ज्ञाननिष्ठाके साधकोंको भी उनके अपने निश्चयके अनुसार सच्चिदानन्दघन ब्रह्मकी प्राप्ति अभेदरूपसे ही होती है। इस सम्बन्धमें यह ध्यान रखनेकी बात है कि दोनों निष्ठाओंका अन्तिम फल एक ही है। मन और बुद्धिके द्वारा वह जाना नहीं जा सकता। इसीसे उसका शब्दोंके द्वारा वर्णन नहीं होता। वह अनिर्वचनीय है। वह स्थिति भेद-अभेद, व्यक्त-अव्यक्त, ज्ञान-अज्ञान, सगुण-निर्गुण और साकार-निराकार आदि

शब्दोंके वाच्यार्थसे सर्वथा विलक्षण है। मन और बुद्धिसे परे होनेके कारण उसे समझना-समझाना अथवा बतलाना सम्भव नहीं है। जिसे वह स्थिति प्राप्त हो जाती है, वही उसे जानता है—यह कहना भी नहीं बनता। यह बात केवल दूसरोंको समझानेके लिये कही जाती है। भला, शब्दोंके द्वारा भी कहीं उसका वर्णन सम्भव है? इस ज्ञाननिष्ठाको गीताजीमें कहीं सांख्य और कहीं संन्यासके नामसे बतलाया है।

(१) अब ज्ञाननिष्ठाको लक्ष्यमें रखते हुए उपर्युक्त चार साधनोंमेंसे पहले साधनके अवान्तर भेद लिखे जाते हैं।

(क) जितने भी अपने-अपने अधिकारके अनुसार शास्त्रविहित कर्म हैं, उन्हें यज्ञका रूप देकर कर्ता, कर्म, करण, क्रिया आदि समस्त कारकोंमें ब्रह्मबुद्धि करना। गीताजीमें इसका वर्णन निम्नलिखित श्लोकमें किया गया है—

ब्रह्मार्पणं ब्रह्म हविर्ब्रह्माग्नौ ब्रह्मणा हुतम्।
ब्रह्मैव तेन गन्तव्यं ब्रह्मकर्मसमाधिना॥
(४।२४)

'जिस यज्ञमें अर्पण अर्थात् स्रुवा आदि भी ब्रह्म है और हवन किये जानेयोग्य द्रव्य भी ब्रह्म है तथा ब्रह्मरूप कर्ताके द्वारा ब्रह्मरूप अग्निमें आहुति देनारूप क्रिया भी

ब्रह्म है—उस ब्रह्मकर्ममें स्थित रहनेवाले पुरुषद्वारा प्राप्त किये जानेयोग्य फल भी ब्रह्म ही है।'

यह साधन व्यवहारकालकी दृष्टिसे है। साधक व्यवहारके समस्त उचित कर्मोंको करता हुआ इस प्रकारका भाव रखे और जहाँ-जहाँ दृष्टि जाय—जो-जो सामने आवे, उसमें ब्रह्मदृष्टि करे, इससे बहुत ही शीघ्र ब्रह्मभावकी जाग्रति हो जाती है।

(ख) व्यवहारमें कभी प्रिय विषयोंकी प्राप्ति होती है तो कभी अप्रियकी। अनुकूलमें प्रियता और प्रतिकूलमें अप्रियता होती ही है। ज्ञाननिष्ठाके साधकको उनमें प्रिय अथवा अप्रिय-बुद्धि न करके ब्रह्मभाव करना चाहिये, और परमात्मामें अभिन्नभावसे स्थित होकर विचरण करना चाहिये। कहीं भी राग-द्वेष नहीं होना चाहिये। यह साधन प्रारब्धानुसार प्राप्त भोग भोगनेकी दृष्टिसे है। यह गीताके निम्न श्लोकके अनुसार है—

न प्रहृष्येत् प्रियं प्राप्य नोद्विजेत् प्राप्य चाप्रियम्।
स्थिरबुद्धिरसंमूढो ब्रह्मविद् ब्रह्मणि स्थितः॥
(५।२०)

'जो पुरुष प्रियको प्राप्त होकर हर्षित नहीं हो और अप्रियको प्राप्त होकर उद्विग्न न हो, वह स्थिरबुद्धि संशय-

रहित ब्रह्मवेत्ता पुरुष सच्चिदानन्दघन परब्रह्म परमात्मामें एकीभावसे नित्य स्थित है।'

(ग) छान्दोग्योपनिषद् (३।१४।१) के 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' यह सब कुछ ब्रह्म ही है—इस वचनके अनुसार सम्पूर्ण चराचर भूतोंके बाहर-भीतर, नीचे-ऊपर, दूर-निकट एवं उन भूतप्राणियोंको भी सच्चिदानन्दघन ब्रह्म समझकर उपासना करना। तात्पर्य यह है कि ध्यानके समय केवल एक अखण्ड ब्रह्म ही सर्वत्र, सर्वदा और सर्वथा परिपूर्ण है—इस भावमें स्थित हो जाना। गीतामें इसका वर्णन निम्नलिखित श्लोकमें है—

बहिरन्तश्च भूतानामचरं चरमेव च।
सूक्ष्मत्वात्तदविज्ञेयं दूरस्थं चान्तिके च तत्॥

(१३।१५)

'वह चराचर सब भूतोंके बाहर-भीतर परिपूर्ण है, और चर-अचररूप भी वही है और वह सूक्ष्म होनेसे अविज्ञेय है तथा अति समीपमें और दूरमें भी स्थित वही है।'

(२) 'जो कुछ दृश्यवर्ग प्रतीत हो रहा है, वह मायामय है—इस प्रकार सबका बाध करके जो शेष बच जाता है, वह सच्चिदानन्दघन ब्रह्म है'—इस द्वितीय साधनके अवान्तर भेदोंका उल्लेख नीचे किया जाता है।

(क) यह जो जीवात्मा और परमात्माका भेद प्रतीत हो रहा है, वह अज्ञानके कारण प्रतीत होनेवाली शरीरकी उपाधिसे ही है । ज्ञानके अभ्यासद्वारा उस भेदप्रतीतिका बाध करके नित्य विज्ञानानन्दघन गुणातीत परब्रह्म परमात्मामें अभेदभावसे आत्माको विलीन करनेका अभ्यास करना चाहिये । ऐसा करते-करते एक निर्गुण निराकार सच्चिदानन्दघन ब्रह्मके अतिरिक्त अन्य किसीकी भी किञ्चिन्मात्र सत्ता नहीं रहती । उपासनाका यह प्रकार जीव और ब्रह्मकी एकताको लक्ष्यमें रखकर है । गीतामें इसका वर्णन इस प्रकार आया है—

ब्रह्माग्नावपरे यज्ञं यज्ञेनैवोपजुह्वति ॥

(४ । २५)

'अन्य योगीजन परब्रह्म परमात्मारूप अग्निमें अभेद-दर्शनरूप यज्ञके द्वारा ही आत्मारूप यज्ञका हवन किया करते हैं ।'

(ख) साधारणतया ध्यानका अभ्यास प्रारम्भ करनेपर साधकको चार वस्तुएँ जान पड़ती हैं । मन, बुद्धि, जीव और ब्रह्म । साधन प्रारम्भ करते ही जो कुछ स्थूल दृश्य प्रतीत होता है, वह सब भुलाकर मन, बुद्धि और अपने-आपको सच्चिदानन्दघन ब्रह्ममें तद्रूप करनेका अभ्यास

करना चाहिये और अनुभव करना चाहिये कि एक सच्चिदानन्दघन परमात्माके अतिरिक्त और कुछ भी नहीं है । जैसे विशाल समुद्रमें बर्फकी चट्टानके ऊपर-नीचे, बाहर-भीतर, सब ओर जल-ही-जल होता है और वह चट्टान भी स्वयं जलमय ही है—वैसे ही सबको ब्रह्ममय अनुभव करना चाहिये; ऐसा करनेसे क्रमशः मन, बुद्धि और जीव परब्रह्म परमात्मामें लीन हो जाते हैं, और केवल परमात्मा-ही-परमात्मा रह जाता है । गीतामें इस साधनका वर्णन निम्नलिखित श्लोकमें है—

तद्बुद्धयस्तदात्मानस्तन्निष्ठास्तत्परायणाः ।
गच्छन्त्यपुनरावृत्तिं ज्ञाननिर्धूतकल्मषाः ॥
(५ । १७)

'जिनका मन तद्रूप है, जिनकी बुद्धि तद्रूप है और सच्चिदानन्दघन परमात्मामें ही जिनकी निरन्तर एकीभावसे स्थिति है, ऐसे तत्परायण पुरुष ज्ञानके द्वारा पापरहित होकर अपुनरावृत्तिको अर्थात् परमगतिको प्राप्त होते हैं ।'

(ग) ब्रह्म अलौकिक, अनिर्वचनीय एवं विलक्षण वस्तु है । वह चराचर जड़ चेतन संसारमें है भी और नहीं भी है । यह संसार परमात्माका सङ्कल्पमात्र है—इसलिये वह इसमें अधिष्ठानरूपसे विराजमान है । इस

दृष्टिसे कह सकते हैं कि वह सर्वत्र परिपूर्ण है । वास्तवमें यह संसार संकल्पमात्र ही है, इसलिये कोई वस्तु नहीं है । तब व्यापक-व्याप्य-भाव कैसे बनेगा । इस दृष्टिसे देखें तो एकमात्र परमात्मा ही है । वह किसीमें व्यापक नहीं है । यह संसार भी उस परमात्मामें है और नहीं भी है । इसका कारण यह है कि वह अपने-आपमें ही स्थित है और यह संसार उसीमें प्रतीत हो रहा है । प्रतीतिकी दृष्टिसे कह सकते हैं कि यह संसार उसीमें है । परन्तु वास्तवमें यह जगत् स्वप्नवत्, कल्पनामात्र होनेके कारण परमात्मामें सर्वथा है ही नहीं । गीताके निम्न श्लोक इस बातका भी संकेत करते हैं—

मया ततमिदं सर्वं जगदव्यक्तमूर्तिना ।
मत्स्थानि सर्वभूतानि न चाहं तेष्ववस्थितः ॥
(९ । ४)

'मुझ निराकार परमात्मासे यह सब जगत् जलसे बर्फके सदृश परिपूर्ण है और सब भूत मेरे अन्तर्गत संकल्पके आधार स्थित हैं, इसलिये वास्तवमें मैं उनमें स्थित नहीं हूँ ।'

न च मत्स्थानि भूतानि पश्य मे योगमैश्वरम् ।
भूतभृन्न च भूतस्थो ममात्मा भूतभावनः ॥
(९ । ५)

'और वे सब भूत मुझमें स्थित नहीं हैं, किन्तु मेरी ईश्वरीय योगशक्तिको देख कि भूतोंका धारण-पोषण करनेवाला और भूतोंको उत्पन्न करनेवाला भी मेरा आत्मा वास्तवमें भूतोंमें स्थित नहीं है।'

यद्यपि इन दोनों श्लोकोंमें वर्णन तो सगुण-निराकार परमात्माके स्वरूपका है, परन्तु ज्ञानयोगका साधक निर्गुण-निराकारकी दृष्टिसे भी यह उपासना कर सकता है।* इस प्रकारका अभ्यास करते-करते सारे संसारका अभाव हो जाता है, और एक परमात्मा ही शेष रह जाता है। यह साधन तो ब्रह्मकी अलौकिकताकी दृष्टिसे है। अब आगेका साधन ब्रह्म सत् और असत्से विलक्षण है, इस दृष्टिसे लिखा जाता है।

(घ) ब्रह्मका स्वरूप ऐसा विलक्षण है कि उसे न सत् कह सकते हैं और न असत्। वह सत् और असत् दोनों ही शब्दोंसे अनिर्वचनीय है। वह सत् तो इसलिये नहीं कहा जा सकता कि मनुष्यकी बुद्धिके द्वारा जिस अस्तित्वका ग्रहण होता है, वह जड़का ही होता है। चेतन वस्तु जड़ बुद्धिका विषय नहीं है। इस दृष्टिसे वह सत्से

* इसका विस्तार कल्याणके चौदहवें वर्षके विशेषाङ्क श्रीगीतातत्त्वाङ्कमें पृष्ठ ५७० से ५७२ तक देखना चाहिये।

विलक्षण है। परन्तु उसे असत् भी नहीं कहा जा सकता, क्योंकि वास्तवमें उसका अस्तित्व है। जो इस प्रकार सत् और असत्से विलक्षण अचिन्त्य, अनादि, सच्चिदानन्दघन ब्रह्म-तत्त्वको समझकर उसका पुनः-पुनः चिन्तन करता है, उसके लिये सारे संसारका बाध हो जाता है और उस अमृतमय परब्रह्म परमात्माकी सदाके लिये अभेदरूपसे प्राप्ति हो जाती है। वह स्थिति मन-बुद्धिसे परे और वाणीसे अतीत है। उसका कहना-सुनना नहीं हो सकता।

ज्ञेयं यत्तत् प्रवक्ष्यामि यज्ज्ञात्वामृतमश्नुते।
अनादिमत् परं ब्रह्म न सत्तन्नासदुच्यते॥
(१३।१२)

'जो जाननेयोग्य है, तथा जिसको जानकर मनुष्य परमानन्दको प्राप्त होता है, उसको भलीभाँति कहूँगा। वह आदिरहित परम ब्रह्म न सत् ही कहा जाता है, न असत् ही।'

(ङ) ब्रह्मके अलौकिक, अनिर्वचनीय एवं सत्, असत्-से विलक्षण होनेपर भी सच्चिदानन्दस्वरूप होनेके कारण केवल सत्ताको प्रधानता देकर भी उसकी उपासना की जा सकती है। जगत्में जितने भी विनाशी पदार्थ देखनेमें आते हैं, उन सबमें अविनाशी परमात्माको समभावसे

देखना चाहिये । जैसे एक ही आकाश घड़ोंकी उपाधिके भेदसे अनेकों रूपमें प्रतीत होता है, वास्तवमें अनेक नहीं है । घड़ोंकी उपाधि नष्ट हो जानेपर वह एक ही दीखने लगता है, और वास्तवमें वह एक ही है । घड़ोंकी उपाधि रहनेपर भी आकाशमें भिन्नता नहीं आती । वैसे ही एक ही परमात्मा शरीरोंके भेदसे अनेक-सा दीखता है, परन्तु वास्तवमें एक ही है । इस प्रकार समझकर जो इस नाशवान् जगत्में एक नित्य विज्ञानानन्दघन अविनाशी परमात्माको सदा-सर्वदा समभावसे देखता है, वह इस जड़ संसारका बाध करके सच्चिदानन्दघन परमात्माको प्राप्त हो जाता है । गीतामें इसका उल्लेख यों हुआ है—

समं सर्वेषु भूतेषु तिष्ठन्तं परमेश्वरम् ।
विनश्यत्स्वविनश्यन्तं यः पश्यति स पश्यति ॥
(१३ । २७)

'जो पुरुष नष्ट होते हुए सब चराचर भूतोंमें परमेश्वरको नाशरहित और समभावसे स्थित देखता है, वही यथार्थ देखता है ।'

सर्वभूतेषु येनैकं भावमव्ययमीक्षते ।
अविभक्तं विभक्तेषु तज्ज्ञानं विद्धि सात्त्विकम् ॥
(१८ । २०)

'जिस ज्ञानसे मनुष्य पृथक्-पृथक् सब भूतोंमें एक अविनाशी परमात्मभावको विभागरहित समभावसे स्थित देखता है, उस ज्ञानको तो तू सात्त्विक जान ।'

(च) जिस प्रकार सच्चिदानन्दघन ब्रह्मकी सत्ताको प्रधानता देकर उपासना हो सकती है वैसे ही केवल चेतनभावको प्रधानता देकर भी हो सकती है । उसका प्रकार यह है कि ब्रह्म अज्ञानरूप अन्धकारसे परे सबका प्रकाशक और विज्ञानमय है । उसका स्वरूप परम चैतन्य एवं अखण्ड अनन्त ज्योतिर्मय है, जो ब्रह्मके इस स्वरूपके ध्यानमें तन्मय हो जाता है, वह भी इस जड़ संसारका बाध करके अभेद-रूपसे सच्चिदानन्दघन परमात्माको प्राप्त हो जाता है । गीता-में इस स्वरूपकी उपासना निम्नलिखित श्लोकमें वर्णित है—

ज्योतिषामपि तज्ज्योतिस्तमसः परमुच्यते ।
ज्ञानं ज्ञेयं ज्ञानगम्यं हृदि सर्वस्य विष्ठितम् ॥
(१३ । १७)

'वह ब्रह्म ज्योतियोंका भी ज्योति एवं मायासे अत्यन्त परे कहा जाता है । वह परमात्मा बोधस्वरूप, जाननेके योग्य एवं तत्त्वज्ञानसे प्राप्त करनेयोग्य है और सबके हृदयमें विशेषरूपसे स्थित है ।'

(छ) सत् और चेतनभावके समान ही आनन्द-भावकी प्रधानतासे भी उपासना होती है। साधकको इस प्रकार विचार करना चाहिये कि परिपूर्ण, अनन्त, विज्ञानानन्दघन परमात्मा आनन्दका एक महान् समुद्र है और मैं उसमें बर्फकी डलीकी तरह डूब-उतरा रहा हूँ। मेरे नीचे-ऊपर, भीतर-बाहर सर्वत्र आनन्दकी ही धारा प्रवाहित हो रही है—आनन्दकी ही तरङ्गें उठ रही हैं और सर्वत्र आनन्द-ही-आनन्दकी बहार मची हुई है। यह आनन्द कैसा है ? पूर्ण है, अपार है, शान्त है, घन है, अचल है, यह ध्रुव, नित्य तथा सत्य है, यही बोध-स्वरूप है, यही ज्ञानस्वरूप है—यह आनन्द अचिन्त्य है, सर्वश्रेष्ठ है, सम है, यह आनन्द ही सत्ता है, यह आनन्द ही चेतन है, यह आनन्द ही सब कुछ है। जब साधक इस प्रकार ब्रह्मके आनन्दभावकी भावना करते-करते उसीमें मग्न हो जाता है, तब उसकी स्थिति निम्नलिखित हो जाती है—

सुखमात्यन्तिकं यत्तद् बुद्धिग्राह्यमतीन्द्रियम्।
वेत्ति यत्र न चैवायं स्थितश्चलति तत्त्वतः॥
(६। २१)

'इन्द्रियोंसे अतीत, केवल शुद्ध हुई सूक्ष्म बुद्धिद्वारा

ग्रहण करने योग्य जो अनन्त आनन्द है, उसको जिस अवस्थामें अनुभव करता है और जिस अवस्थामें स्थित यह योगी परमात्माके स्वरूपसे विचलित होता ही नहीं ।'

यहाँतक जिन उपासनाओंका उल्लेख किया गया है वे तत्पदार्थको लक्ष्यमें रखकर 'इदम्' रूपसे की जानेवाली हैं । वास्तवमें ब्रह्म 'इदम्' अथवा 'अहम्' किसी भी वृत्तिका विषय नहीं है । साधककी उपासनाके लिये ही उसका वृत्त्यारूढ़ रूपसे वर्णन किया जाता है । जैसे ऊपर 'इदम्' वृत्तिके द्वारा होनेवाली उपासनाका वर्णन हुआ, वैसे ही 'त्वम्' पदके लक्ष्यार्थको दृष्टिमें रखकर 'अहम्' बुद्धिसे होनेवाली उपासनाकी पद्धति नीचे बतलायी जाती है।

(३) 'सर्वं यदयमात्मा' (बृ० उ० २ । ४ । ६) इस श्रुतिके अनुसार जो कुछ है, वह सब आत्मा ही है अर्थात् सब कुछ मेरा ही स्वरूप है, मुझसे भिन्न और कोई वस्तु नहीं है । ज्ञाननिष्ठाके अनुसार इस तृतीय साधनके अवान्तर भेद लिखे जाते हैं । इसके केवल तीन प्रकार ही बतलाये जाते हैं । प्रथममें यह दृष्टि रखी गयी है कि समस्त भूतप्राणी आत्माके अन्तर्गत हैं । दूसरेमें यह दृष्टि रखी गयी है कि भूत और आत्मा ओतप्रोत हैं । तीसरेमें सबके सुख-

दुःखको आत्मसदृश अनुभव करनेकी बात है । उनका विवरण निम्नलिखित है—

(क) साधकको चाहिये कि तत्त्वदर्शी महात्मा पुरुषोंकी सेवामें उपस्थित होकर ज्ञाननिष्ठाके तत्त्वको सरलतासे समझे, और अज्ञानजनित देहात्मबुद्धिको हटाकर नित्य विज्ञानानन्दघन परमात्माके स्वरूपमें एकीभावसे स्थित हो जाय और अपने अनन्त चेतन आत्मस्वरूपके अन्तर्गत सारे चराचर भूत-प्राणियोंको एक अंशमें स्थित समझे । वह ऐसा अभ्यास करे कि जैसे आकाशसे उत्पन्न वायु, जल, तेज और पृथ्वी उसके एक अंशमें स्थित हैं, वैसे ही मुझ अनन्त नित्य विज्ञानानन्दघन आत्माके एक अंशमें यह सारा संसार स्थित है । इस प्रकार पुनः-पुनः अभ्यास करनेसे साधक सच्चिदानन्दघन परमात्माको अभेदरूपसे प्राप्त कर लेता है ।

तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया ।
उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानं ज्ञानिनस्तत्त्वदर्शिनः ॥

(४ । ३४)

'उस ज्ञानको तू समझ; श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ आचार्यके पास जाकर उनको भलीभाँति दण्डवत्-प्रणाम करनेसे, उनकी सेवा करनेसे और कपट छोड़कर सरलतापूर्वक प्रश्न

करनेसे परमात्मतत्त्वको भलीभाँति जाननेवाले वे ज्ञानी महात्मा तुझे उस तत्त्वज्ञानका उपदेश करेंगे ।'

यज्ज्ञात्वा न पुनर्मोहमेवं यास्यसि पाण्डव ।
येन भूतान्यशेषेण द्रक्ष्यस्यात्मन्यथो मयि ॥
(४ । ३५)

'जिसको जानकर फिर तू इस प्रकार मोहको नहीं प्राप्त होगा तथा हे अर्जुन ! जिस ज्ञानके द्वारा तू सम्पूर्ण भूतोंको निःशेषभावसे पहले अपनेमें और पीछे मुझ सच्चिदानन्दघन परमात्मामें देखेगा ।'

(ख) जो कुछ जड-चेतन, चराचर प्रतीत होता है, वह सब ब्रह्म है । ब्रह्म ही आत्मा है, इसलिये सब मेरा ही स्वरूप है । जैसे सर्वव्यापी आकाश सम्पूर्ण बादलों-में सर्वत्र समानभावसे व्यापक रहता है, वैसे ही इन समस्त चराचर भूत-प्राणियोंमें आत्मा समानभावसे व्यापक रहता है । जिस प्रकार आकाशसे ही झुंड-के-झुंड बादल पैदा होते हैं और उसीमें स्थित रहते हैं, इसलिये सारे बादलों-का कारण और आधार आकाश ही है, ठीक वैसे ही समस्त भूत-प्राणियोंका कारण और आधार आत्मा है । इस प्रकार समझकर चराचर भूत-प्राणियोंको अपना स्वरूप ही समझना चाहिये और सबको अपनी आत्मामें

तथा आत्माको सारे भूत-प्राणियोंमें समभावसे देखना चाहिये । इस प्रकारके अभ्याससे मनुष्य विज्ञानानन्दघन परमात्माको प्राप्त हो जाता है ।

> सर्वभूतस्थमात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि ।
> ईक्षते योगयुक्तात्मा सर्वत्र समदर्शनः ॥
> (६ । २९)

'सर्वव्यापी अनन्त चेतनमें एकीभावसे स्थितिरूप योगसे युक्त आत्मावाला तथा सबमें समभावसे देखनेवाला योगी आत्माको सम्पूर्ण भूतोंमें और सम्पूर्ण भूतोंको आत्मामें देखता है ।'

(ग) जैसे देहाभिमानी मनुष्य अपने देहके हाथ-पैर आदि सारे अङ्गोंमें अपने आपको और सुख-दुःखोंकी प्राप्तिको समभावसे देखता है, वैसे ही साधकको चाहिये कि सम्पूर्ण विश्वको आत्मा समझकर समस्त चराचर भूत-प्राणियोंमें अपने आपको और उनके सुख-दुःखोंको समभावसे देखनेका अभ्यास करे । अभिप्राय यह है कि जैसे मनुष्य अपने आपको कभी किसी प्रकार जरा भी दुःख पहुँचाना नहीं चाहता तथा स्वाभाविक ही निरन्तर सुख पानेके लिये अथक प्रयत्न करता है, वैसे ही साधक विश्वके किसी भी व्यक्तिको कभी किसी प्रकार किञ्चिन्मात्र भी

दुःख न पहुँचाकर सदा तत्परताके साथ उसके सुखके लिये चेष्टा करे। इस प्रकार समस्त भूतोंको आत्मा समझकर उनके हितकी चेष्टा करनेसे मनुष्य सच्चिदानन्दघन परब्रह्म परमात्माको प्राप्त हो जाता है। गीतामें इस भावको इस प्रकार प्रकट किया गया है—

आत्मौपम्येन सर्वत्र समं पश्यति योऽर्जुन।
सुखं वा यदि वा दुःखं स योगी परमो मतः॥
(६।३२)

'हे अर्जुन! जो योगी अपनी भाँति सम्पूर्ण भूतोंमें सम देखता है और सुख अथवा दुःखको भी सबमें सम देखता है, वह योगी परम श्रेष्ठ माना गया है।'

(४) शरीर आदि जितने भी दृश्यपदार्थ हैं, वे सब नाशवान्, क्षणभङ्गुर और अनित्य होनेके कारण वास्तवमें नहीं हैं। 'त्वम्' पदका लक्ष्यार्थ आत्मा अविनाशी नित्य, अक्रिय, निर्विकार और सनातन होनेसे सत्य वस्तु है। ज्ञाननिष्ठाके अनुसार इस चतुर्थ साधनके कुछ अवान्तर भेद बतलाये जाते हैं।

(क) आत्मा अर्थात् 'अहम्' पदका लक्ष्यार्थ अजन्मा, अचिन्त्य, अचल, अक्रिय, सर्वव्यापी और अव्यक्त है। वह शाश्वत, अव्यय, अक्षर और नित्य होने-

के कारण सत्य है। उस अविनाशीके ये प्रतीत होनेवाले विनाशशील, अनित्य और क्षणभङ्गुर देह आदि असत्य हैं, क्योंकि उस अधिष्ठानरूप, सत्यस्वरूप आत्माके स्वप्न-वत् संकल्पके आधारपर ही ये टिके हुए हैं। इस प्रकार समझकर आत्माके सिवा सब विनाशशील जड़वर्गका अत्यन्त अभाव करके अपने अविनाशी सत्यस्वरूप आत्मा-में ही नित्य-निरन्तर बुद्धिको लगाना चाहिये। जब इस प्रकारके अभ्याससे वृत्ति आत्माकार हो जाती है, तब शेष-में एक आत्मा ही बच रहता है और वही अपना स्वरूप है। इस प्रकार बार-बार अभ्यास करनेसे इस क्षणभङ्गुर एवं जड़ दृश्यवर्गका अत्यन्त अभाव हो जाता है और नित्य विज्ञानानन्दघन ब्रह्मकी प्राप्ति हो जाती है।

नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः।
उभयोरपि दृष्टोऽन्तस्त्वनयोस्तत्त्वदर्शिभिः॥

(२।१६)

'असत् वस्तुकी तो सत्ता नहीं है और सत्का अभाव नहीं है इस प्रकार इन दोनोंका ही तत्त्व ज्ञानी पुरुषोंद्वारा देखा गया है।'

अविनाशि तु तद् विद्धि येन सर्वमिदं ततम्।
विनाशमव्ययस्यास्य न कश्चित् कर्तुमर्हति॥

—

अन्तवन्त इमे देहा नित्यस्योक्ताः शरीरिणः।
अनाशिनोऽप्रमेयस्य तस्माद् युध्यस्व भारत॥
(२।१७-१८)

'नाशरहित तो तू उसको जान, जिससे यह सम्पूर्ण जगत्—दृश्यवर्ग—व्याप्त है। इस अविनाशीका विनाश करनेमें कोई भी समर्थ नहीं है। इस नाशरहित, अप्रमेय, नित्यस्वरूप जीवात्माके ये सब शरीर नाशवान् कहे गये हैं। इसलिये हे भरतवंशी अर्जुन! तू युद्ध कर।'

य एनं वेत्ति हन्तारं यश्चैनं मन्यते हतम्।
उभौ तौ न विजानीतो नायं हन्ति न हन्यते॥
(२।१९)

'जो इस आत्माको मारनेवाला समझता है तथा जो इसको मरा मानता है, वे दोनों ही नहीं जानते; क्योंकि यह आत्मा वास्तवमें न तो किसीको मारता है और न किसीके द्वारा मारा जाता है।'

न जायते म्रियते वा कदाचि-
न्नायं भूत्वा भविता वा न भूयः।
अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो
न हन्यते हन्यमाने शरीरे॥
(२।२०)

'यह आत्मा किसी कालमें भी न तो जन्मता है और न मरता ही है तथा न यह उत्पन्न होकर फिर होनेवाला ही है। क्योंकि यह अजन्मा, नित्य, सनातन और पुरातन है; शरीरके मारे जानेपर भी यह नहीं मारा जाता।'

(ख) जिस प्रकार विनाशी पदार्थोंमें अविनाशी वस्तुकी सत्ताको प्रधानता देकर उपर्युक्त उपासना होती है, वैसे ही इन जड पदार्थोंका अभाव करके साक्षी और द्रष्टाके रूपमें चेतनको प्रधानता देकर भी होती है। यह संसार क्षणभङ्गुर, नाशवान्, अनित्य एवं जड है। इससे इन्द्रियोंको हटाकर अहंता, ममता, कामना और आसक्तिका त्याग कर विवेक एवं वैराग्ययुक्त बुद्धिसे निःसङ्कल्पताका अभ्यास करना चाहिये—अर्थात् जो कुछ दृश्य सामने आवे उसको अनित्य और नाशवान् समझकर उसके अभावका अभ्यास करना चाहिये। उनकी विनाशिता और अनित्यताका विचार इसमें सहायक होता है। इस प्रकार पुनः-पुनः सबके अभाव तथा निःसङ्कल्पताका अभ्यास करते-करते अन्तमें केवल अभावका द्रष्टा-साक्षी चेतन पुरुष ही बच रहता है। वह भाव और अभावका साक्षी ही आत्मा है। वही ब्रह्म है। यह बात समझकर अभ्यास करनेसे अचिन्त्य विज्ञानानन्दघनआत्मस्वरूप ब्रह्मकी प्राप्ति

हो जाती है । गीतामें यह बात इस प्रकार कही गयी है—

शनैः शनैरुपरमेद् बुद्ध्या धृतिगृहीतया ।
आत्मसंस्थं मनः कृत्वा न किञ्चिदपि चिन्तयेत् ॥
(६ । २५)

'क्रम-क्रमसे अभ्यास करता हुआ उपरामताको प्राप्त हो तथा धैर्ययुक्त बुद्धिके द्वारा मनको परमात्मामें स्थित करके परमात्माके सिवा और कुछ भी चिन्तन न करे ।'

(ग) जिस प्रकार सत्‌की प्रधानता और चेतनकी प्रधानतासे अहम् (त्वम्) पद लक्ष्यार्थ ब्रह्मकी उपासना होती है, वैसे ही आनन्दकी प्रधानतासे भी साधकको चाहिये कि दृश्यमात्रको नाशवान्, क्षणभङ्गुर, अनित्य और दुःखरूप समझकर सबको मनसे त्याग दे और एकमात्र आत्मानन्दका ही चिन्तन करे । आनन्द ही ब्रह्म है और ब्रह्म ही आत्मा है । ऐसा समझकर यह अनुभव करे कि पूर्ण आनन्द, अपार आनन्द, शान्त आनन्द, घन आनन्द, अचल आनन्द, ध्रुव आनन्द, नित्य आनन्द, सत्य आनन्द, बोधस्वरूप आनन्द, ज्ञानस्वरूप आनन्द, अचिन्त्य आनन्द, परम आनन्द, अत्यन्त आनन्द, सम आनन्द, चेतन आनन्द, एक आनन्दके सिवा और कुछ नहीं है । वह

आनन्द ही आत्मा है। आनन्द ही मेरा स्वरूप है। मुझ आनन्दस्वरूपके अतिरिक्त और कुछ भी नहीं है—इस प्रकारका अभ्यास करते-करते अपनेको उस आनन्दसागर आत्मस्वरूपमें इस प्रकार विलीन कर दे जैसे जलमें बर्फ-की डली। इस प्रकारके अभ्याससे साधक संसारसे मुक्त होकर विज्ञानानन्दघन ब्रह्मको प्राप्त हो जाता है। गीताजीमें कहा है—

बाह्यस्पर्शेष्वसक्तात्मा विन्दत्यात्मनि यत् सुखम्।
स ब्रह्मयोगयुक्तात्मा सुखमक्षयमश्नुते ॥
(५।२१)

'बाहरके विषयोंमें आसक्तिरहित अन्तःकरणवाला साधक आत्मामें स्थित जो ध्यानजनित सात्त्विक आनन्द है, उसको प्राप्त होता है; तदनन्तर वह सच्चिदानन्दघन परब्रह्म परमात्माके ध्यानरूप योगमें अभिन्नभावसे स्थित पुरुष अक्षय आनन्दका अनुभव करता है।'

(घ) जिस प्रकार सत्, चित् और आनन्दको अलग-अलग प्रधानता देकर उपासना की जाती है, वैसे ही उनको एक साथ मिलाकर भी चित् अर्थात् ज्ञान और आनन्द दोनोंकी प्रधानतासे इस प्रकार उपासना करनी चाहिये। सम्पूर्ण पदार्थ और क्रियाओंको मायामय समझकर सारे

सङ्कल्पोंसे रहित हो जाय और 'अहं ब्रह्मास्मि' इस श्रुतिके अनुसार एक नित्य विज्ञानानन्दघन ब्रह्मको ही आत्मा समझकर अर्थात् वह सच्चिदानन्दघन मेरा स्वरूप ही है— इस ज्ञानपूर्वक दृढ़ निश्चयके साथ उसमें अभेदरूपसे स्थित होना चाहिये। उसमें स्थित होकर विज्ञानानन्दघन आत्म-स्वरूपका इस प्रकार चिन्तन करना चाहिये। आत्मस्वरूप वास्तवमें परिपूर्ण चेतन, अपार अचल, ध्रुव नित्य, परम सम, अनन्त पूर्णानन्द एवं परम शान्तिमय है। आत्मामें अज्ञानान्धकाररूपिणी माया नहीं है। वह उससे अत्यन्त विलक्षण, परम देदीप्यमान प्रकाश और परम विज्ञान तथा आनन्दस्वरूप है। इस प्रकार समझकर उसका निरन्तर चिन्तन करते हुए उसीमें रमते हुए तन्मय होकर आनन्द-मग्न रहना चाहिये। ऐसे अभ्याससे उस परमपद, अचिन्त्य-स्वरूप, परब्रह्म परमात्माकी प्राप्ति हो जाती है।

योऽन्तःसुखोऽन्तरारामस्तथान्तर्ज्योतिरेव यः।
स योगी ब्रह्मनिर्वाणं ब्रह्मभूतोऽधिगच्छति॥

(गीता ५। २४)

'जो पुरुष निश्चयपूर्वक अन्तरात्मामें ही सुखवाला है, आत्मामें ही रमण करनेवाला है तथा जो आत्मामें ही ज्ञानवाला है, वह सच्चिदानन्दघन परब्रह्म परमात्माके साथ

एकीभावको प्राप्त सांख्ययोगी शान्त ब्रह्मको प्राप्त होता है।*

(ङ) अहंता, ममता, राग-द्वेष, काम-क्रोध, लोभ-मोह, प्रमाद-आलस्य, निद्रा और पाप आदिसे रहित होकर अपने विज्ञानानन्दघन अनन्त आत्मस्वरूपमें एकीभावसे स्थित हो जाय और इस शरीर तथा संसारको अपने आत्माके एक अंशमें संकल्पके आधारपर स्थित समझकर शरीर, इन्द्रिय, प्राण और मनके द्वारा लोकदृष्टिसे की जानेवाली समस्त क्रियाओंको करते समय यह समझे कि यह सब मायामय गुणोंके कार्यरूप मन, प्राण, इन्द्रिय आदि अपने-अपने मायामय गुणोंके कार्यरूप विषयोंमें विचर रहे हैं—वास्तवमें न तो कुछ हो ही रहा है और न मेरा इनसे कुछ सम्बन्ध ही है अर्थात् नेत्रेन्द्रिय रूप देख रही है—श्रवणेन्द्रिय शब्द सुन रही है, स्पर्शेन्द्रिय स्पर्श कर रही है—घ्राणेन्द्रिय सूँघ रही है—रसना रस ले रही है—वागिन्द्रिय बोल रही है—इसी प्रकार सब इन्द्रियाँ अपने-अपने विषयोंमें बरत रही हैं—इन सबके साथ मुझ चेतन द्रष्टा साक्षी आत्माका किञ्चिन्मात्र भी सम्बन्ध नहीं है। इस प्रकार कर्तापनके अभिमानसे रहित हो नित्य विज्ञानानन्दघन आत्मस्वरूपको

---

* यह सब ध्यानकी दृष्टिसे है—अब आगेका साधन व्यवहारकी दृष्टिसे बतलाया जाता है।

लक्ष्यमें रखते हुए सम्पूर्ण पदार्थ और क्रियाओंको मायामय समझकर द्रष्टा साक्षी होकर विचरे—तात्पर्य यह है कि मन, इन्द्रियाँ और उनके विषय जो कुछ भी देखने और समझनेमें आते हैं, वे सब सत्त्व, रज और तम—इन तीनों गुणोंके कार्यरूप होनेके कारण गुण ही हैं—इसलिये जो कुछ भी क्रिया अर्थात् चेष्टा होती है, वह गुणोंमें ही होती है। यह सब क्षणभङ्गुर, जड और मायामय होनेके कारण अनित्य हैं। 'अहम्' पदका लक्ष्यार्थ आत्मा द्रष्टा, साक्षी और चेतन होनेके कारण नित्य, सत्य और उनसे अत्यन्त विलक्षण है, इसलिये उठते-बैठते, खाते-पीते, चलते-सोते, सब समय इन मायामय पदार्थों और कर्मोंका अभाव समझकर चिन्मय, साक्षी आत्माको उन सबसे अलग और निर्लेप अनुभव करना चाहिये और अचल तथा नित्यरूपसे स्थित रहना चाहिये। जो कुछ दृश्यमान पदार्थ हैं, वे मायामरीचिकाकी भाँति बिना हुए ही प्रतीत होते हैं—वास्तवमें एक द्रष्टा साक्षी चेतन, निर्लेप आत्मा ही है। इस प्रकार अभ्यास करते-करते दृश्यमान संसारका अत्यन्त अभाव हो जाता है और नित्य विज्ञानानन्दघन परमात्माकी प्राप्ति हो जाती है।

नैव किञ्चित् करोमीति युक्तो मन्येत तत्त्ववित्।
पश्यञ्शृण्वन् स्पृशञ्जिघ्रन्नश्नन् गच्छन् स्वपञ्श्वसन्

प्रलपन् विसृजन् गृह्णन्नुन्मिषन्निमिषन्नपि ।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेषु वर्तन्त इति धारयन् ॥
(गीता ५। ८-९)

'तत्त्वको जाननेवाला सांख्ययोगी तो देखता हुआ, सुनता हुआ, स्पर्श करता हुआ, सूँघता हुआ, भोजन करता हुआ, गमन करता हुआ, सोता हुआ, श्वास लेता हुआ, बोलता हुआ, त्यागता हुआ, ग्रहण करता हुआ तथा आँखोंको खोलता और मूँदता हुआ भी, सब इन्द्रियाँ अपने-अपने अर्थोंमें बरत रही हैं—इस प्रकार समझकर निःसन्देह ऐसा माने कि मैं कुछ भी नहीं करता हूँ।

नान्यं गुणेभ्यः कर्तारं यदा द्रष्टानुपश्यति ।
गुणेभ्यश्च परं वेत्ति मद्भावं सोऽधिगच्छति ॥
(गीता १४। १९)

'जिस समय द्रष्टा तीनों गुणोंके अतिरिक्त अन्य किसीको कर्ता नहीं देखता और तीनों गुणोंसे अत्यन्त परे सच्चिदानन्दघनस्वरूप मुझ परमात्माको तत्त्वसे जानता है, उस समय वह मेरे स्वरूपको प्राप्त होता है।'

यह साधन सब प्रकारके विहित कर्मोंको करते हुए भी चलता रहता है।

(च) यह साधना विचारकाल अथवा चिन्तनकाल-

की है। इसके द्वारा आत्माके परत्वका विचार होकर परमात्माकी प्राप्ति हो जाती है। इसकी पद्धति यह है कि यह दृश्यमान शरीर पृथ्वीपर स्थित है, इसलिये पृथ्वी इससे परे है। पृथ्वीसे तेज, वायु, आकाश, समष्टि मन और महत्तत्त्व (समष्टि बुद्धि) उत्तरोत्तर पर हैं। महत्तत्त्वसे भी पर अव्याकृत माया है, और उससे भी परे परम पुरुष परमात्मा है। परमात्मासे परे और कोई वस्तु नहीं है, क्योंकि वह सबकी सीमा है। इस प्रकार बाह्यदृष्टिसे नित्य विज्ञानानन्दघन तत्त्वको पर-से-पर विचार करके आभ्यन्तर दृष्टिसे भी चिन्तन करना चाहिये। स्थूल शरीरसे परे सूक्ष्म और आभ्यन्तर प्राण हैं। प्राणोंसे इन्द्रियाँ, मन और बुद्धि उत्तरोत्तर पर एवं आभ्यन्तर हैं। तदनन्तर स्वभाव अर्थात् अव्याकृत मायाका अंश है। उससे पर और आभ्यन्तर आत्मा है। वही अपना स्वरूप है। उससे सूक्ष्म और आभ्यन्तर कुछ भी नहीं है। वह स्वयं ही अपने आप है, और सबकी सीमा है। आत्मासे लेकर परमात्मातक जो कुछ भी दृश्यवर्ग है वह मायामय है—मायाका कार्य है। इसीके कारण आत्मा और परमात्मामें घटाकाश और महाकाशकी भाँति भेद-सा प्रतीत होता है। वास्तवमें किसी प्रकारका भेद नहीं है। जिस प्रकार घटके नाशसे घटाकाश

और महाकाशकी एकता प्रत्यक्ष दीखने लगती है, वैसे ही तत्त्वज्ञानके द्वारा मायामय अज्ञानका नाश होनेपर आत्मा और परमात्माकी एकताका साक्षात्कार हो जाता है। अतएव मायाके कार्यरूप दृश्यमान जड जगत्को कल्पित अथवा प्रतीतिमात्र समझकर इसके चिन्तनसे रहित हो जाना चाहिये, और एक नित्य विज्ञानानन्दघन आत्माके स्वयंसिद्ध स्वरूपमें स्थित हो जाना चाहिये; इस प्रकारके अभ्याससे मनुष्य परमगतिस्वरूप परमात्माको प्राप्त हो जाता है। यही बात गीता और कठोपनिषद् भी कहती है—

इन्द्रियाणि पराण्याहुरिन्द्रियेभ्यः परं मनः।
मनसस्तु परा बुद्धिर्यो बुद्धेः परतस्तु सः॥
(३।४२)

'इन्द्रियोंको स्थूल शरीरसे पर यानी श्रेष्ठ, बलवान् और सूक्ष्म कहते हैं; इन इन्द्रियोंसे पर मन है, मनसे भी पर बुद्धि है और जो बुद्धिसे भी अत्यन्त पर है, वह आत्मा है।'

इन्द्रियेभ्यः परा ह्यर्था अर्थेभ्यश्च परं मनः।
मनसस्तु परा बुद्धिर्बुद्धेरात्मा महान् परः॥
महतः परमव्यक्तमव्यक्तात् पुरुषः परः।
पुरुषान्न परं किञ्चित् सा काष्ठा सा परा गतिः॥
(कठोपनिषद् १।३।१०-११)

'इन्द्रियोंकी अपेक्षा उनके विषय पर हैं, विषयोंसे मन पर है, मनसे बुद्धि पर है और बुद्धिसे भी महान् आत्मा (महत्तत्त्व) पर है। महत्तत्त्वसे अव्यक्त (मूलप्रकृति) पर है और अव्यक्तसे भी पुरुष पर है। पुरुषसे पर और कुछ नहीं है। वही [सूक्ष्मत्वकी] पराकाष्ठा (हद) है, वही परा गति है।'

(छ) परमात्माको प्राप्त पुरुषकी जैसी स्वाभाविक स्थिति होती है, उसको लक्ष्य करके वैसी ही स्थिति प्राप्त करनेके लिये साधक साधना करता है। इस दृष्टिसे साधकको चाहिये कि स्वप्नसे जगनेके बाद जैसे स्वप्नकी सृष्टिमें सत्ता, ममता और प्रीति लेशमात्र भी नहीं रहती, वैसे ही इस संसारको स्वप्नवत् समझे, एवं ममता और आसक्तिसे रहित होकर संसारके बड़े-से-बड़े प्रलोभनोंमें भी न फँसे और किसी भी घटनासे किञ्चिन्मात्र भी विचलित न हो। साथ ही किसीके साथ अपना कोई सम्बन्ध न समझे। राग-द्वेष, हर्ष-शोक आदि विकारोंसे रहित होकर सदा-सर्वदा निर्विकार अवस्थामें स्थित रहे और अपने नित्य-विज्ञानानन्दघन आत्मस्वरूपका नित्य निरन्तर चिन्तन करे। इस प्रकार अपने आत्मामें ही रमण करता हुआ आत्मानन्दमें ही तन्मय और मग्न रहे। यह अभ्यास

करनेसे मनुष्य क्लेश, कर्म और सम्पूर्ण दुःखोंसे मुक्त होकर परमशान्ति और परमानन्दस्वरूप परमात्माको प्राप्त होता है। गीतामें परमात्माको प्राप्त पुरुषकी स्थितिका वर्णन इस प्रकार है—

यस्त्वात्मरतिरेव स्यादात्मतृप्तश्च मानवः।
आत्मन्येव च संतुष्टस्तस्य कार्यं न विद्यते ॥
(३।१७)

'जो मनुष्य आत्मामें ही रमण करनेवाला और आत्मामें ही तृप्त तथा आत्मामें ही सन्तुष्ट हो, उसके लिये कोई कर्तव्य नहीं है।'

इस प्रकार ज्ञाननिष्ठाकी साधनाके अनेक अवान्तर भेद शास्त्रोंमें बतलाये गये हैं। यहाँ केवल श्रीमद्भगवद्गीता-की दृष्टिसे कुछ बातें लिखी गयी हैं। साधकोंकी रुचि, भावना, पद्धति और अधिकारभेदसे और भी बहुत-से भेद हो सकते हैं। पूर्वोक्त साधनोंमेंसे किसी भी एक साधन-का लगन और तत्परताके साथ अनुष्ठान करनेपर परमात्मा-की प्राप्ति हो सकती है। सभी साधनोंका फल एक ही है। अतएव ज्ञाननिष्ठाके साधकोंको पूर्वोक्त साधनोंमेंसे किसी एकको अपनाकर तत्परताके साथ लग जाना चाहिये।

सात्त्विक ज्ञान

'जिस ज्ञानसे मनुष्य पृथक्-पृथक् सब भूतोंमें एक अविनाशी परमात्मभावको विभाग-रहित समभावसे स्थित देखता है, उस ज्ञानको सात्त्विक जानो।'

(गीता १८।२०)